विवाहेतर प्रेम का सर्वोत्तम सच : कितना सच?[1]

'सर्वोत्तम सच' वीरेंद्र सक्सेना का प्रकाशन-क्रम में चौथा उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने विवाहेतर प्रेम का पक्ष लेते हुए भी वैवाहिक संबंध को टूटने से बचाने की वकालत की है।

पुरुष-सत्तात्मक समाज में पुरुषों के लिए विवाह-पूर्व प्रेम की भांति ही विवाहेतर प्रेम भी वर्जित नहीं रहा है और उस पर 'अभिज्ञान शाकुंलतम्' और 'उर्वशी' जैसी कालजयी कृतियां भी लिखी गयी हैं। पर स्त्रियों के लिए या स्त्रियों की दृष्टि से जब भी इस पर किसी ने कुछ लिखा, उसे कटु आलोचना झेलनी पड़ी। समय और स्थिति के बदलने पर जिस तरह जीवन-मूल्य और आस्थाएं बदलती हैं, उसी तरह जीवन के 'सच' भी बदलते ही रहते हैं। यों 'सच' भी समय या स्थिति-सापेक्ष ही होता है, इसलिए कोई भी सच 'अंतिम सच' नहीं हो सकता, पर उसे समय और स्थिति के अनुसार 'सर्वोत्तम' बनाने का प्रयत्न तो किया ही जा सकता है। वीरेंद्र सक्सेना का 'सर्वोत्तम सच' अपनी पति-पत्नी संबंधों को ही नहीं, इतर स्त्री-पुरुष के संबंधों को भी समझने-परखने का प्रयत्न करता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि विवाह-संस्था के अनेक सकारात्मक पक्ष रहे हैं और हैं, पर इसका नकारात्मक पक्ष यह है कि कालांतर में पति-पत्नी के संबंध उबाऊ बन जाते हैं, क्योंकि हम वैवाहिक जीवन को 'टेकन फॉर ग्रांटेड' मानने लगते हैं। अतः दो व्यक्ति जब प्रेमी बनकर विवाह-बंधन में बंधते हैं या विवाह-बंधन में बंधकर प्रेमी बनते हैं, तो आरंभिक पांच वर्ष तो काव्यमय होते हैं (कुछ अपवाद भी हो सकते हैं), पर अगले पांच साल गद्यमय हो जाते हैं। इसके बाद के वर्ष जब व्याकरणमय बनने लगते हैं, तो विवाह की कड़वी वास्तविकताएं भी सामने आने लगती हैं।

वीरेंद्र सक्सेना ने 'सर्वोत्तम सच' में पति-पत्नी के संबंध को सामान्यतः संतोषप्रद मानते हुए विवाहेतर प्रेम-संबंध को उपयोगी माना है। लेकिन क्या उनके भीतर का 'पुरुष' अपनी पत्नी को यह अधिकार देना चाहेगा? एक स्त्री के नाते मैं इस पर शंकाओं से भरा प्रश्नचिह्न ही लगाऊंगी। इसके बावजूद मैं डॉ. सक्सेना को साधुवाद भी देना चाहूंगी कि उन्होंने सभ्य समाज की एक ज्वलंत समस्या की ओर हमारा ध्यान खींचा है। हम अपने पाखंडवश धर्म, अर्थ, मोक्ष पर तो बढ़-चढ़कर बातें करते हैं, पर 'काम' की जरूरत को छिपाते हैं, जबकि जीवन की मूलभूत आवश्यकता 'काम' है। वैवाहिक संबंधों में हमने काम को केवल संतानोत्पादन तक ही उपयोगी माना है, अतः संभोग हमारे यहां 'सहभोग' नहीं हो पाता। जहां होता भी है, वहां भी 'रतिक्रिया' में स्त्री-पुरुष की दैहिक भिन्नता या अलग-अलग आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया जाता।

वैवाहिक जीवन की समस्या यह है कि पति-पत्नी परस्पर मित्र या प्रेमी नहीं रह पाते। दो मित्रों या प्रेमियों के बीच विचारों और भावनाओं का जो आदान-प्रदान जारी रहता है, वह पति-पत्नी के बीच क्यों संभव नहीं हो पाता? ऐसे में विवाहेतर प्रेम-संबंध उनकी क्या, कितनी मदद कर पाते हैं, यही 'सर्वोत्तम सच' का केंद्रीय विषय है। इसमें 'सुप्रिया' और 'सुप्रेमी' के बीच प्रेम की शारीरिकता को 'चुंबन-आलिंगन' तक सीमित कर दिया गया है, लेकिन मेरे विचार में दो सुप्रेमियों के शारीरिक संबंध की सीमा-रेखा क्या हो, इसका निर्णय उन दोनों पर ही छोड़ देना चाहिए।

बहरहाल 'सर्वोत्तम सच' में विवाहेतर सेक्स की वकालत कहीं नहीं है। उसमें विवाह को, विवाह-संस्था को, पति-पत्नी संबंधों को, सिर्फ अपने दायरे में ही नहीं, बल्कि उसके बाहर भी समझने-परखने का प्रयास किया गया है। यहां संभवतः लेखक का उद्देश्य भी यही है कि प्रेम की

---

1. सर्वोत्तम सच : वीरेंद्र सक्सेना; प्र. अनुराग प्रकाशन, 1/1073-डी, महरौली, नयी दिल्ली-110030; प्र.सं. 2003; डिमाई; पृ. सं. 143; मूल्य 150.00

पराकाष्ठा की पहचान करके वैवाहिक जीवन को भी समृद्ध बनाया जाये। व्यक्तिगत रूप से मेरा भी मानना है कि जब समय के प्रवाह में युगों-युगों से सभी कुछ विकसनशील है, तो स्त्री-पुरुष के रूप में वैवाहिक संबंध भी विकसनशील होने चाहिए। आदर्श स्थिति तो यही होगी कि 'संवाद' से शुरू होकर वैवाहिक जीवन 'सम-वाद' तक अग्रसर हो, तो विवाह संस्था के माध्यम से उत्पन्न संतान भी अपना भविष्य बेहतर बना पायें।

'सर्वोत्तम सच' के संदर्भ में 'प्रेममय जीवन' में 'काम' की स्थिति को लेकर 'सुप्रेमी' और 'सुप्रिया' के दो संकल्प विचारणीय हैं : "(1) हम अपने प्रेम का देह के स्तर पर निरंतर गहराई से महसूस करते हुए भी, उसे देह की घाटियों-गुफाओं में गुम नहीं होने देंगे।...(2) हम अपने प्रेम-संबंध या प्रेममय जीवन को वैवाहिक जीवन जैसी एकरसता या जड़ता से बचाने के लिए तन की बजाय मन के अधिक निकट ले जायेंगे। वह इसलिए, क्योंकि तन की सीमाएं हो सकती हैं, पर मन की सीमाएं नहीं होतीं। अतः मन से उपजा प्रेम तर्कसंगत होते हुए तर्कातीत भी होता है और वह मन के अन्वेषण से जुड़कर नित नया और गतिशील बना रहता है। अतः हम प्रेम को नयी ऊंचाइयों तक ले जाने का प्रयास भी करते रहेंगे।" (पृ. 116-117) इन संकल्पों से स्पष्ट है कि 'सुप्रिया' से सुप्रेमी का प्रेम-संबंध मात्र काम-भावना नहीं, वह तो दो अंतरंग मित्रों की मैत्री भी है।

यही बात 'संवाद' और 'सहभोग' खंड के बाद प्रस्तुत 'संस्तुति' खंड से और स्पष्ट हो जाती है। इसे पढ़ने के बाद लगता है कि स्वयं लेखक ने अपने आपको इस उपन्यास का 'प्रस्तोता' माना है। इससे 'कथ्य' की विश्वसनीयता बढ़ गयी है और पाठक उसके निष्कर्षों या संदेशों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने को तत्पर हो जाता है। लेखक की संस्तुति है-'वे प्रेम (लव) और काम (सेक्स) के अंतर को समझें और 'लविंग टुगेदर' (प्रेममय जीवन) और 'लिविंग टुगेदर' (सह जीवन) के अंतर को भी समझने की चेष्टा करें। इस समझ के सहारे ही कोई प्रेमी-युगल वर्तमान गतिमान शताब्दी या सहस्राब्दी में अपना प्रेममय जीवन अधिकाधिक संतोषप्रद और निरापद ढंग से जीते हुए प्रेमामृत चख सकेगा।" (पृ. 130) इसी 'संस्तुति खंड' में लेखक ने युवा पीढ़ी को अनियंत्रित विवाह-पूर्व सेक्स-संबंधों से बचने का सुझाव भी दिया है।

उपन्यास के 'समीक्षा-साक्ष्य खंड' में मृत्युंजय उपाध्याय और रति सक्सेना (एक पुरुष, एक महिला) की समीक्षाओं को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह भी उपन्यास के शिल्प की एक नवीनता ही है और इससे उपन्यास के कथ्य की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता में वृद्धि ही हुई है।

समग्रतः 'सर्वोत्तम सच' उपन्यास एक 'समवादी' उपन्यास है, जो प्रेम-संबंध को भी 'सम-बंध' बनाकर जीने का समर्थन करता है। इसमें यह भी संदेश निहित है कि विवाहेतर प्रेम हो, या न हो, पर अपना वैवाहिक जीवन बेहतर बनाने के लिए कहीं-न-कहीं प्रेमपूर्ण मैत्री को महत्त्वपूर्ण स्थान देना होगा। और समस्या कोई भी हो, किसी भी विषय से संबंधित हो, उस पर खुलकर चर्चा होनी चाहिए, ताकि उसके सभी पक्ष सामने आ सकें। इसीलिए काम-कुंठाओं से भी ऊपर उठना होगा, उनके बारे में सोचना-समझना होगा। मेरे विचार में 'सर्वोत्तम सच' की यही सचाइयां हैं और वह उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर पाया है।

(पृ. 33 का शेषांश)

होगा। धार्मिक संकीर्णताओं को दूर करना ही मेरा धर्म होगा। अपने शौर्यबल और सैन्यबल से जो कुछ मैंने प्राप्त किया है, उसे साधारण लोगों में बांट देना ही मेरे आनन्द का मूल कारण होगा।...आज मैं अच्छी तरह समझ पाया हूं कि जीवन भी एक अग्निपथ है और जो इस पर सहज होकर चल पाता है, वह अजेय है, अमर है!" (पृ. 200)

युद्ध, षड्यंत्र, छल-कपट और झूठे आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच से गुजरते हुए जब कोई पाठक उक्त प्रकार के मानव-हितकारी पटाक्षेप का अनुभव करता है तो वह सहज ही एक नये आशावाद का भी अनुभव करने लगता है। संभवतः यही 'अग्निपथ' के माध्यम से सुरेंद्र तिवारी का उद्देश्य भी है।

CHANDRALEKHA A. ...
GOA UNIVERSITY ...
DEPT. OF ...